इकाई 4 स्वतंत्रता पूर्व अवधि में भूमि और कृषि संबंध

संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि में भूमि का स्वामित्व

4.2.1 भू-राजस्व प्रथा

4.2.2 बिचौलिए और भूमि अधिकार

4.3 ग्राम समुदाय

4.4 ब्रिटिश शासन का आगमन और प्रभाव

4.4.1 भू-राजस्व व्यवस्था

4.4.2 पूर्वी भारत: 1793 का स्थायी बंदोबस्त

4.4.3 उत्तरी और मध्य भारत: जमींदारी/महालवारी प्रथा

4.4.4 पश्चिमी और दक्षिणी भारत: रैयतवारी प्रथा

4.5 कृषि का वाणिज्यीकरण

4.5.1 1930 के दशक की व्यापक मंदी का प्रभाव

4.5.2 ऋणग्रस्तता और भूमि अंतरण

4.6 कृषि संरचना और काश्तकारी

4.6.1 कृषि श्रमिक

4.6.2 कृषि संवृद्धि

4.7 सारांश

4.8 शब्दावली

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- ब्रिटिश शासन से पहले विद्यमान भूमि स्वामित्व की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे;
- भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान अंत:प्रदेशीय अंतरों के अनुसार उन्हें श्रेणीबद्ध करते हुए भू-राजस्व में हुए परिवर्तनों की चर्चा कर सकेंगे;
- ''कृषि के वाणिज्यीकरण की अवधारणा'' और उन कारकों के स्पष्ट कर सकेंगे जिनका उन्नीसवीं शताब्दी में उसके अवक्षय में योगदान रहा है; और
- ब्रिटिश शासन की अवधि में कृषि वृद्धि पर उसके परिणामों सहित कृषि और पट्टेदारी संरचना के बीच विद्यमान अंत:संबंध का वर्णन कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रौद्योगिकीय कारक, जैसे कि उर्वरक, बीजों की किस्में, नियंत्रित सिंचाई और वैज्ञानिक औजार कृषि विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परन्तु ''संस्थागत कारक'' जैसे भू-स्वामित्व या काश्तकारी, दूरवासी जमींदारी प्रथा, भू-राजस्व का भार, किसानों की ऋणग्रस्तता आदि भी कृषि विकास प्रोत्साहित करने या बाधित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वास्तव में, कृषि में प्रौद्योगिकी का अनुप्रयोग स्वत: ही उन संस्थाओं की किस्मों पर काफी निर्भर करता है, जो क्षेत्र विशेष में विद्यमान हैं। इसके अलावा, किसान कृषि का अधिक सफल रूप वहां उभरा है जहां 'खुदकाश्त' या स्वयं अपनी भूमि पर कृषि की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त चूंकि विद्यमान भूमि और कृषि ढांचा (सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों द्वारा प्रभावित) विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, इसलिए इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ज्ञात करना आवश्यक है। इसी परिप्रेक्ष्य में इस इकाई को दूसरे खंड के प्रारंभ में सम्मिलित किया गया है ताकि स्वांतंत्र्योत्तर अवधि में तदानुसार किए गए विकास कार्यों पर अनुवर्ती इकाई की विषयवस्तु समझने में सहायता मिल सके।

4.2 ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि में भूमि का स्वामित्व

एक महत्त्वपूर्ण विषय आर्थिक इतिहासकारों की चर्चा का विषय रहा है कि प्राचीन काल में भूमि का स्वामी कौन था, क्या यह किसान था, या कोई बिचौलिया था या राजा था? अधिकांश विद्वान आज इस मत पर सहमत हैं कि राजा भू-स्वामी नहीं था। मुगलकाल के बहुत से दस्तावेज भू-स्वामी के रूप में प्राइवेट व्यक्ति का (जिन्हें मालिक कहा जाता था) उल्लेख करते हैं। परन्तु मामले का मूल प्रश्न यह है कि क्या वास्तविक अर्थ में, (अर्थात् केवल मात्र नाम में नहीं) किसान का अधिकार उसके पूर्ण न्यायिक अर्थ में ''मालिकाना'' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय किसान का अधिकार था। वास्तव में, जिस भूमि की जोताई किसान करता था, उस भूमि पर स्थायी और पैतृक दखलकारी के रूप में किसान के स्वामित्व को सामान्य मान्यता प्राप्त थी। उन मामलों में जहां भूमि खेती के योग्य नहीं थी (या उसे पूरी तरह से त्याग दिया गया था) तब वह भूमि खेती के लिए दूसरे किसान को दी जाती थी। परन्तु यदि किसी भी समय उस पर खेती करने के लिए मूल भू-स्वामी अपनी क्षमता पुन: प्राप्त कर लेता था तो भूमि उसे वापस की जाती थी। दूसरी ओर, वास्तविक स्वतंत्र हस्तांतरण का कोई प्रश्न नहीं था (अर्थात् किसान को भूमि बेचने का कोई अधिकार नहीं था)। यह आधुनिक स्वामित्व अधिकार की आवश्यक विशेषता है। जिस तत्परता से प्राधिकारी किसान के स्वामित्व के अधिकार को मान्यता देते हैं और वे भूमि छोड़ने से उसे रोकने में चिंता दिखाते हैं, उस समय के दौरान दोनों बातें स्वाभाविक थीं जब भूमि प्रचुर मात्रा में थी और किसान विरले थे। भूमि की बिक्री भी इतना बड़ा मुद्दा नहीं था, क्योंकि भूमि की दुर्लभता नहीं थी। वास्तव में, वह अधिकार जो सार रूप में स्वामित्व होता है, नियम के रूप में एक व्यक्ति में निहित नहीं थे। परन्तु भूमि से जुड़े हुए विभिन्न पक्षों में वितरित किए गए थे (जैसे काश्तकार (आसामी), भूस्वामी, फसल-बटाईदार आदि)।

4.2.1 भू-राजस्व प्रथा

मुगल शासन की अवधि के दौरान भू-राजस्व प्रथा मुख्यतया इसमें उगाई गई फसलों के परिमाण और उसके अनुमानित मूल्य पर आधाारित थी। प्रत्येक फसल के उत्पादन के मूल्य का आकलन चालू फसल की भूमि की प्रति इकाई उपज को उस फसल के अधीन भूमि के क्षेत्रफल से गुणा करके किया जाता था। तब भू-राजस्व की गणना इस प्रयोजन के लिए नियत अनुपात के आधार पर की जाती थी। चूंकि इस विधि में कुछ निर्णय अधिकारियों पर छोड़ दिए जाते थे, इसलिए व्यवस्था को संशोधित कर भिन्न-भिन्न फसलों के लिए मानक अधिसूचित की गई थी। मुगल प्रशासन के मुख्य उद्देश्य, किसानों की अतिरिक्त फसल बड़ा भाग छीन लेना था। ऐसे तरीके बनाए गए थे, जिनसे न केवल अधिकतम राजस्व सुनिश्चित होता था बल्कि राजा के प्रति किसानों की वफादारी भी सुनिश्चित होती थी।

4.2.2 बिचौलिये और भूमि अधिकार

सिद्धांत रूप में तो केवल राजा ही भू-राजस्व का अधिकारी होता था किंतु व्यवहारिक स्तर पर राजस्व संग्रह में एक छोटा सा शासक वर्ग जुटा होता था। ये बिचोलिए दो प्रकार के थे : जागीरदार और ज़मीनदार।

जागीरदार

ये राजा के वे राज्याधिकारी थे जिन्हें राजा ने भूमि ईनाम या उपहार में दे दी थी। इनके कुछ पद (मनसब) होते थे। प्रत्येक मनसबदार को एक स्तर विशेष का 'वेतन' मिलता था। वह वेतन वे राजा द्वारा प्रदत्त भू-क्षेत्र से राजस्व एकत्र कर प्राप्त करते थे। ये भू-क्षेत्र उस (स्थान) पर संभावित कृषि उत्पादन के अनुमान के अनुसार निर्धारित होता था। राजस्व के रूप में एकत्र कुल राशि का मनसबदारी वेतन पर आधिक्य राजकोष में जमा किया जाता था। यद्यपि मनसबदारी के पद पैत्रक नहीं थे किंतु बड़े मनसबदारों के परिणामों को ही उनका उत्तराधिकारी मान लिया जाता था। जागीर के इस अस्थाई स्वरूप के कारण बादशाह का जागीरदारों पर कड़ा नियंत्रण बना रहता था।

ज़मींदार

'जमींदार' फारसी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है भू-धारक/जमींदार का मूल अधिकार तो किसानों पर भू-राजस्व के अतिरिक्त अधिकार लगाने का था। वे गृह कर, वनोत्पाद कर, जल कर आदि लगा सकते थे। ये जमींदारों के नाम लिखे गए भूविक्रय पत्रों में अंकित होते थे? जमींदार भी जागीरदारों की भांति मूल कृषकों से राजस्व की उगाही करते थे और उसमें से 10 प्रतिशत अपना मेहनताना पाते थे। ये मेहनताना उन्हें राजस्व राशि में से नगद या फिर राजस्व मुक्त भूमि के आबंटन के माध्यम से मिलता था। जमींदारी अधिकार एक संपदा अधिकार की ही भांति प्रचलित परम्पराओं और कानूनों के अनुसार उत्तराधिकारियों को अंतरणीय था।

अत: मुगलकाल में जागीरदार और ज़मींदार नामक दो बिचौलियों के समूह बहुत महत्त्वपूर्ण थे। इनका प्रत्यक्ष कृषि उत्पादन में कोई योगदान नहीं होता था। कृषि उत्पादक की देयताएं तो कानूनी रूप से नियत थीं, किंतु वास्तव में उससे क्या कुछ

वसूल किया जाता था – वह जमींदारों और जागीरदारों की ताकत और मानसिकता पर निर्भर रहता था। मुगल साम्राज्य के अंतिम काल में तो ये व्यवस्था बहुत ही दमनकारी बन गई थी।

4.3 ग्राम समुदाय

ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि में ग्रामीण जीवन की उल्लेखनीय विशेषता विनिर्माण कार्य से कृषि कार्य का संयोजन था। उत्पादन मुख्यतया प्रत्यक्ष उपयोग के लिए था और राजस्व का भुगतान करने के बाद अधिशेष बाजार में बेचा जाता था। कस्बे से गांव का संबंध अधिकतर एकतरफा था, अर्थात् उसे बदले में मुश्किल से कोई वस्तु प्राप्त होती थी। (नमक और मिट्टी तेल को छोड़कर) और उनकी प्रायः सभी आवश्यकताएं गांव के अंदर से ही पूरी की जाती थीं। सामान्यतया गांव के किसान भी एक ही वंश का होने का दावा करते थे और उनका आपसी भाईचारा भी होता था। रक्त संबंध से जुड़ी इस भ्रातृत्व की भावना की पैठ गांव की सामाजिक व्यवस्था में बहुत गहरी होती है। यह भावना किसानों को एकता के उस सुदृढ़ तरीके से बांधे रखती है जिसकी केवल पड़ोसियों से आशा नहीं की जा सकती। गांव में प्राधिकारों का प्रयोग परम्परागतरूप से पंचायत नाम की पांच प्रौढ़ व्यक्तियों की परिषद द्वारा किया जाता था।

यद्यपि कुछ विद्वानों का आग्रह है कि भूमि पर किसानों का सांझा अधिकार होता था, किंतु अन्य विद्वानों ने राय व्यक्त की है कि अलग-अलग परिवारों की अपनी-अपनी अलग जोत होती थी और केवल वन तथा चराई भूमि पर सभी का सांझा अधिकार होता था। किसानों की समरूपता के स्वरूप पर भी मतों पर अंतर हैं, क्योंकि किसानों में आर्थिक अंतर मुगलकाल के दौरान उत्पन्न हुआ हो गया था। यह उल्लेख किया गया है कि मुगल साम्राज्य के अन्य भागों की तरह उत्तर भारत में भी कुछ बड़े किसान थे जो बेचने के लिए फसलें उगाते थे और कुछ छोटे किसान थे जो केवल अपनी निर्वाह के लिए खाद्यान्न पैदा करते थे। इसके अलावा, किसानों में इस अंतर के बाद भी ऊंची और नीची जातियों के आधार पर अधिक सुस्पष्ट विभाजन थे। बीज, पशु और धन में अपने संसाधनों के आधार पर किसान बड़े या छोटे भूखंडों में खेती कर सकते थे। अधिक बड़े भूमि जोतों को या तो गांव के मुखिया या गांव के प्रभुत्वशाली तत्त्वों के सदस्य के रूप में प्राप्त स्थिति या पदस्थिति से जोड़ा गया था।

बोध प्रश्न 1

लगभग 50 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1) क्या आप सोचते हैं कि ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि के दौरान जो किसान वास्तव में खेत जोतते थे, उन्हें स्पष्ट रूप से न्यायिक दृष्टि से ''स्वामित्व अधिकार'' प्राप्त थे?

.....

.....

.....

2) ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि में फसलों की उपज के मूल्य का आकलन कैसे किया जाता था?

.....

.....

.....

.....

3) बिचौलिए के उन प्रकारों के नाम बताइए जो ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि में भू-राजस्व संग्रह करते थे? उन दोनों के बीच क्या अंतर हैं?

.....

.....

.....

.....

4) वे कौन से मुख्य कारक थे जिन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि के दौरान ''ग्राम समुदाय'' को ''एक आत्मनिर्भर इकाई'' के रूप में एकीकृत रखा ?

.....

.....

.....

.....

4.4 ब्रिटिश शासन का आगमन और प्रभाव

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, भारत पर ब्रिटेनवासियों के आक्रमण से पहले ग्रामीण समुदाय कृषि और विनिर्माण कार्यों के मिश्रण से आत्मनिर्भर थे। ब्रिटिश शासन के दौरान ग्राम उद्योग व्यापक रूप से नष्ट किये गए। इसके फलस्वरूप कारीगरों ने कृषि अपनायी और वह भी अधिकांशत: कृषि श्रमिक के रूप में। इसके कुछ तात्कालिक परिणाम भी हुए :

(i) भूमि बाजार का निर्माण (ii) किरायों में वृद्धि; (iii) ऋणग्रस्तता; (iv) बिचौलियों के स्तरों का निर्माण (v) बार-बार दुर्भिक्ष (vi) जनसंख्या के एक वर्ग की दुर्बलता, आदि। हम इस अनुभाग में भारत के कृषि विकास के आर्थिक महत्त्व के कुछ विशेष क्षेत्रों पर ब्रिटिश शासन के मुख्य प्रभाव पर विचार करेंगे।

4.4.1 भू-राजस्व व्यवस्था

ब्रिटिश शासन काल के दौरान भू-राजस्व व्यवस्था में कई संशोधन लागू किए गए। उदाहरण के लिए, ईस्ट इंडिया कंपनी में वर्ष 1765 में बंगाल, बिहार, उड़ीसा के कुछ भागों के वित्तीय अधिकार अपने हाथ में ले लिए। कंपनी की मुख्य रुचि (i) अपने व्यापार और वाणिज्य के वित्त पोषण के लिए और (ii) देश में अपने शासन को सुदृढ़ करने तथा विस्तार करने के लिए सेना को बनाए रखने के लिए अधिक

से अधिक राजस्व एकत्र करना थी। अधिक राजस्व प्राप्त करने के लिए उच्चतम बोली लगाने वाले को जमींदारी की नीलामी की जाती थी। इस नीति ने भू-संपत्ति का गठन ही बदल दिया, क्योंकि बहुत से पुराने जमींदार नई व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा नहीं कर सके। नीलामी में सबसे ऊंची बोली लगाने वाले अनिवार्यत: वे लोग होते थे जिनका व्यापार और वाणिज्य में सहभागिता द्वारा नए प्रशासन से संबंध होता था। इस प्रकार किसानों को पूरी तरह से इस परिवर्तन से दूर रखा गया था और अक्षरश: बेईमान जमींदारों द्वारा भी लूटा गया। इसके परिणाम में बार-बार दुर्भिक्ष होते थे और जन हानि होती थी। ये व्यवस्था 1793 में स्थायी बंदोबस्त तक चलती रही। भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्र बंजर हो गए।

4.4.2 पूर्वी भारत: 1793 का स्थायी बंदोबस्त

बंगाल और बिहार में 1793 के स्थायी बंदोबस्त में जमींदारों को ''भूमि का स्वामी'' घोषित किया और राज्य को उनकी देय राशि नियत की गई। यह युक्ति न केवल राजस्व की निश्चितता सुनिश्चित करने के लिए थी बल्कि कंपनी के व्यापार की समृद्धि के लिए भी सोची गई थी। वह युक्ति और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति एक ही समय में हुए और इसके लिए भारत से निर्यात के लिए, विशेष कर कृषि से, विभिन्न प्रकार के माल का व्यापार खूब बढ़ रहा था, इसलिए इसे महत्त्वपूर्ण समझा गया। भूमि को निजी संपत्ति बनाने से भूमि के विशाल क्षेत्र में धनी निवासियों द्वारा कृषि में निवेश के लिए उपयुक्त स्थितियां बनने की आशा की गई थी। इससे संबद्ध उद्देश्य ब्रिटिश शासन को अधिक स्थायित्व प्रदान करने के लिए वफादार समर्थकों (अर्थात् जमींदारों) के वर्ग का निर्माण करना था। परन्तु आशाएं केवल आंशिक रूप में ही पूरी हुई। जहां तक वफादार समर्थकों के वर्ग के निर्माण का संबंध था, ब्रिटिश शासन को पर्याप्त मात्रा में सफलता मिली। परन्तु नए (अर्थात् ब्रिटिश संरक्षण का लाभ प्राप्त करने के लिए जमींदार (बने) और पुराने भी (अर्थात् जो पहले से ही ऐसा कार्य रहे थे) दोनों कृषि को पूँजीवादी बनने में असफल रहे। परन्तु वे सामंती मालिक बन गए। इस प्रकार पूँजी का निवेश कृषि विकास के लिए नहीं किया गया बल्कि भूमि खरीदने में किया गया। इसके अलावा, समय गुजरने के साथ-साथ राज्य और काश्तकारों के बीच बिचौलियों की एक बड़ी श्रृंखला अस्तित्त्व में आई। जमींदारों से राज्य को राजस्व (स्थायी बंदोबस्त) के रूप में नियत राशि का भुगतान करने की आशा की गई थी जो 1793 में जमींदारों द्वारा एकत्रित किए गए राजस्व का 90 प्रतिशत था। कीमतों में वृद्धि से जमींदारों की आय का मूल्य भी गिरता गया। राज्य ने भी राजस्व में संभावित वृद्धि को खो दिया क्योंकि वह तो मौद्रिक रूप में नियत था। चूंकि किराये विनियमित नहीं थे इसलिए इसकी सबसे बड़ी मार किसानों पर पड़ी और कृषि उत्पाद मूल्य में हुई प्रत्येक वृद्धि जमींदार हड़प जाते थे। इसलिए उड़ीसा और असम में बंगाल मॉडल नहीं अपनाया गया क्योंकि ब्रिटिश शासन ने अनुभव किया कि स्थायी बंदोबस्त द्वारा भू-राजस्व के नियत करने से उन्हीं पर सबसे अधिक प्रभाव होता था क्योंकि यही राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन था। इसे ध्यान में रखते हुए उड़ीसा और असम के बंदोबस्तों में भूमि से राजस्व की मांग नियत नहीं रखी गई बल्कि समय-समय में बढ़ाई गई।

4.4.3 उत्तरी और मध्य भारत : जमींदारी/महालवारी प्रथा

उत्तरी भारत में अपनायी गई राजस्व प्रथा जमींदारी और महालवारी प्रथाओं का मिश्रण है। यद्यपि जमींदारी प्रथा में राजस्व आकलन के लिए मूल इकाई ''प्राथमिक किसान'' था, ''महालवारी'' प्रथा में राजस्व आकलन की इकाई ''ग्राम'' था। प्रारंभ में बंगाल की किस्म के स्थायी बंदोबस्त का अनुसरण उत्तरी क्षेत्र में किया गया था। 1816 के बाद राजस्व की वृद्धि के विचार के फलस्वरूप नियत राजस्व प्रथा त्याग दी गई। परन्तु पंजाब और संयुक्त प्रांतों के कुछ भागों में महालवारी प्रथा पर प्रयोग किया गया। इसमें राजस्व की भुगतान करने की किसान और ग्राम स्वामित्व निकाय (अर्थात् ग्राम सभा) दोनों की संयुक्त जिम्मेदारी थी। भारत के मध्य भागों में ब्रिटिश शासन की प्रारंभिक दशाब्दियों में ''अत्यधिक आकलन'' की नीति अपनाई गई थी। इसके अधीन भूमि का आकलन इतना अधिक किया गया कि भू-राजस्व का भुगतान करना असंभव हो गया। इससे बहुत लोग दरिद्र बन गए। घोर विरोध और निंदा के बाद 1834 में बीस वर्ष के लिए अधिक लंबा बंदोबस्त किया गया जो 1860 के दशक तक जारी रहा। बाद में 1864 में नए बंदोबस्त के अधीन राजस्व भुगतानकर्ताओं को अपनी संपत्ति बेचने या बंधक रखने के अधिकार सहित भूमि के मालिक के रूप में मान्यता दी गई। काश्तकारी अधिकार भी खेतिहरों को प्रदान किए गए। इसके अलावा, सिद्धांत रूप में संपदा के किराये के डेढ़ गुणा तक सीमित कर भू-राजस्व प्रथा क्रियान्वित की गई। परन्तु व्यवहार में, आकलन/संग्रहण के समय नियमों का विरले ही पालन किया गया।

4.4.4 पश्चिमी और दक्षिणी भारतः रैयतवारी प्रथा

पश्चिमी प्रांत में अपनाई गई भू-राजस्व प्रथा ''रैयतवारी प्रथा'' थी। इसमें बंदोबस्त सामान्यतया 30 वर्षों की नियत अवधि के लिए था। रैयतवारी बंदोबस्त में ''रैयती किसान'' को ''मालिक'' के रूप में स्वीकार किया जाता है और सकल उत्पाद के अनुमानित मूल्य के आधार पर भू-राजस्व स्थायी रूप से नियत किया जाता था। किसान को या तो उपहार या बिक्रीनामा द्वारा भूमि किराए या बंधक या अंतरण करने की अनुमति थी। इसके अलावा ''रैयत'' (अर्थात् किसान) को तब तक नहीं निकाला जा सकता था जब तक वह राजस्व का भुगतान करते रहता था। इसी प्रकार यहां तक कि मद्रास प्रेजिडेंसी में भी (आंध्र के तटीय क्षेत्रों को छोड़कर जहां जमींदारी प्रथा लागू की गई थी) रैयतवारी प्रारंभ की गई। समस्त अनजुती भूमि सरकार के नियंत्रण के अधीन मान लिया गया जिसे वह नए ढंग से आकलित दरों पर खेती के लिए दे सकती थी। यद्यपि प्रथा किसान के स्वामित्व के अनुकूल थी परन्तु इसमें बड़े भू स्वामी ही आ पाते थे, जैसा केरल के मालावार क्षेत्र के मामले में हुआ था।

बोध प्रश्न 2

लगभग 50 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1) ग्राम उद्योगों विषयक ब्रिटिश शासकों की नीति के ''ग्राम समुदाय'' के सहचारी स्वरूप पर तात्कालिक परिणाम क्या रहे?

.....

.....

.....

2) ब्रिटिश शासकों द्वारा कृषि वर्ग से भू-राजस्व उगाही के पीछे दो मूल उद्देश्य क्या थे?

.....

.....

.....

3) उड़ीसा और असम में राजस्व वसूली के लिए ''स्थायी बंदोबस्त'' का बंगाल मॉडल क्यों नहीं अपनाया गया?

.....

.....

.....

4) जमींदारी और महालवारी प्रथाओं में राजस्व आकलन की बुनियादी इकाइयां क्या थीं? इन दो प्रथाओं की तुलना में रेयतवारी प्रथा में ''रैयत किसान'' को दिए गए बुनियादी अधिकार क्या थे?

.....

.....

.....

5) भूमि में ''निजी संपत्ति'' के निर्माण के पीछे ब्रिटिश शासन की दो आशाएं क्या थीं? किस सीमा तक इसे प्राप्त किया जा सका और क्यों?

.....

.....

.....

4.5 कृषि का वाणिज्यीकरण

ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि का वाणिज्यीकरण (देखिए शब्दावली) रेलवे के आने से संभव हुआ था। किसानों को उत्पाद दूर बाजारों में बेचने और निर्यात करने का अवसर मिल गया था। इस अवधि में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों आयामों के बड़े परिवर्तन भी हुए। गुणात्मक परिवर्तनों (रेलवे के प्रवर्तन के अलावा) में शामिल थे: (i) संरोधों का उन्मूलन जैसे तौलों और मापों की विविधता के रूप में बाजार की त्रुटियां (ii) अप्रचलित/जोखिमी परिवहन प्रणालियों में सुधार (iii) व्यापार के तरीके के रूप में वस्तु विनिमय के व्यापक प्रयोग का न्यूनीकरण। इन उपायों से विश्व, क्षेत्रीय और स्थानीय बाजारों का अधिक निकट आना संभव हुआ। इस प्रकार भारत कृषि निर्यात में विशेषज्ञ बनने लगा। दूसरी ओर, परिमाणात्मक परिवर्तनों में शामिल थे (i) 1870 और 1914 के बीच लगभग 500 प्रतिशत तक निर्यात के मूल्य में

वृद्धि; (ii) भारत से कुल निर्यात का 70-80 प्रतिशत अविनिर्मित माल था, (iii) 1870-1920 की अवधि के दौरान अधिकांश प्रदेशों में फसली क्षेत्रफल में वृद्धि; (iv) विक्रेय फसलों में वृद्धि, जैसे गेहूं, कपास, तिलहन, गन्ना और तंबाकू आदि। इसके फलस्वरूप न केवल कृषि मूल्य बढ़े बल्कि किराया भी बढ़ा। इसलिए कृषि का व्यापारीकरण से न केवल भूमि अंतरण और भूमि मूल्य की मात्रा में वृद्धि हुई बल्कि इससे साख आधारित लेनदेन की संख्या भी बढ़ी।

एक बार फिर कृषि के वाणिज्यीकरण के लाभ केवल समाज के कुछ प्रभावशाली वर्गों तक पहुंचे। इस प्रक्रिया में इसने गरीब किसानों और धनी जमींदारों के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी कर दी। उदाहरण के लिए, 20वीं शताब्दी के बाद के वर्षों के दौरान कृषि के वाणिज्यिक विस्तार ने नई फसलों, नए परिवहन नेटवर्क और बाजार की बढ़ती गतिविधियों का मार्ग प्रशस्त किया। इन में विकास के लिए संसाधनों की सुलभता आवश्यक थी, जैसे साख, विद्युत, भंडारण/परिवहन सुविधाएं और बाजार। उस संरक्षण के कारण, जो उपनिवेशी सरकार ने किसानों और जमींदारों के प्रभावशाली वर्ग को दिया था, वह इन संसाधनों पर नियंत्रण रख सकते थे और वे अधिक से अधिक लाभ कमा सकते थे। काश्तकारी कानून, (जैसे 1885 का बंगाल काश्तकारी अधिनियम) ने बारह वर्ष तक किराये पर किसी की भूमि जोत चुके किसानों को उस भूमि पर स्थायी अधिकार दे दिया था। वे अब इसे गिरवी भी रख सकते थे। इससे ग्रामीण समाज के एक वर्ग को प्रभावशाली बना दिया था। इस प्रकार आर्थिक सफलता उन लोगों का विशेष अधिकार बन गया जो भरण, बाजार और बुनियादी सुविधाओं की पक्षपात पूर्ण सुलभता प्राप्त करने के लिए समाज में अपनी स्थिति का प्रयोग कर सकते थे।

4.5.1 1930 के दशक की व्यापक मंदी का प्रभाव

कृषि में व्यापारीकरण के लाभ व्यापक मंदी की अवधि के दौरान घटने शुरू हुए। आयात मूल्यों की तुलना में निर्यात कीमतें अधिक तेजी से गिरीं। यह घटनाक्रम कृषि के विरुद्ध गया। इससे निजी स्वामित्व के स्वर्ण का निर्यात बढ़ा, ये अधिकांश आपद कालिक बिक्री थी, क्योंकि, अधिकांश सोना किराया और भू-राजस्व की मांग पूरा करने के लिए बेचा जा रहा था। यह व्यापारियों और देशी बैंकरों के दिवालिये द्वारा भी प्रभावित था जिनके व्यापार को तरलता संकट के कारण हानि हुई थी। इससे पूँजी की वास्तविक लागत में भी वृद्धि हुई, यहां तक कि धनी किसान भी पूँजी प्रधान तरीकों/पद्धतियों में कटौती करने के लिए विवश हुए। श्रम लागत भी बढ़ी जिससे बड़ी जोत के किसानों को भी भाड़े के श्रमिकों पर व्यय में कटौती करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अन्यत्र भी ऐसी ही दशाओं के कारण कृषि से बाहर रोजगार के अवसरों की भी कमी हो गई। इस प्रकार मंदी ने धनी जमींदारों की शक्ति को भी अधिक सुदृढ़ किया। इस प्रकार संपत्तिशाली वर्ग परिणामों से लाभान्वित हुआ जबकि गरीब किसान अत्यंत संकटग्रस्त हुए।

4.5.2 ऋणग्रस्तता और भूमि अंतरण

ब्रिटिश शासन में ग्रामीण ऋणग्रस्तता भी बहुत ही व्यापक थी। उच्चतर निवेश की आवश्यकता के कारण व्यापारीकरण ने ऋण की आवश्यकता को बढ़ाया। अन्य जिन कारकों से ऋणग्रस्तता बढ़ी वे भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों के लिए अलग-अलग थे। इन में शामिल थे (i) तैयार फसल से पहले खाद्यान्न खरीदना (विशेष कर खाद्यान्न से भिन्न फसलें उगाने वाले/किसानों द्वारा) (ii) किराये और राजस्व का भुगतान नकदी में, (iii) नकदी फसलों की विपणन की आवश्यकताएं पूरा करना (iv) नकदी फसलों जैसे गन्ना, कपास और तंबाकू आदि के लिए उच्चतर निवेश लागतों का वित्तपोषण। इन परिवर्तनों के साथ-साथ फसल विफलता थी जिसके फलस्वरूप किसानों और यहां तक कि कभी-कभी जमींदार भी ऋण चुकाने में अपने आपको असमर्थ पाते थे। इससे जोत भूमि की आपदा कालिक बिक्री की जाती थी। अनेक वर्षों तक इस प्रकार की बिक्री की संख्या बढ़ी थी। इस प्रकार ऋणग्रस्तता ने बहुत से किसानों को गरीब कृषि मजदूर बनने के लिए बाध्य कर दिया।

4.6 कृषि संरचना और काश्तकारी

ब्रिटिश शासन की अवधि के दौरान भूमि स्वामित्व और भूमिधारण ढांचे में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कृषि ढांचे में पर्याप्त विविधता दिखाई दी। पूर्वी भारत में जमींदारों का स्वामित्व भूमि के बहुत बड़े भाग पर था। और बम्बई, मद्रास प्रेजीडेंसी के रैयतवारी क्षेत्र में किसानों का स्वामित्व काफी अधिक था। अन्यत्र दशाएं इन दो प्रकार की स्थितियों के बीच की थीं। ब्रिटिश राजस्व बंदोबस्तों का बल प्रायः जमींदारी प्रथा में बिचौलियों के दावों को मजबूत करने पर रहा था। इस प्रवृत्ति को वाणिज्यीकरण ने और सुदृढ़ किया। जैसे ही कृषि मूल्य बढ़े, जमींदारों और साहूकारों ने किसानों से उनके स्वामित्व की भूमि खरीद ली। जिन किसानों ने इस प्रकार अपनी भूमि गंवाई, उन्हें आवश्यक रूप से भूमि से निकाला नहीं गया। पुराने किसानों ने बटाई के आधार पर आसामी किसान के रूप में अपने बेचे हुए भूखंडों पर खेती की।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान दक्षिण भारत में जनसंख्या की तुलना में खेती का क्षेत्रफल अधिक तेजी से बढ़ा। गोदावरी और कृष्णा नदियों पर विशाल सिंचाई कार्य पूरे किए गए। नकदी फसलों, जैसे कपास, मूंगफली और तिलहनों की खेती बढ़ी। वर्ष 1881-82 से 1915-16 के बीच कृषि पण्यवस्तुओं की कीमतें अन्य कीमतों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ीं और व्यापार की शर्तें कृषि के पक्ष में रहीं। भू-राजस्व का भार गिरा। किसान भूमि में निवेश करने में सक्षम हुए। कुछ क्षेत्रों में विशेषकर गोदावरी और कृष्णा डेल्टा, में प्रगति तेज थी। इससे भूमि की कीमतों में जबरदस्त बढ़ोतरी हुई। धनी किसानों ने अपने कार्यकलापों के क्षेत्र का विस्तार किया और चावल मिलों, माइका और अन्य उद्योगों में निवेश किया। उन्होंने अपने साहूकारी व्यापार का भी विस्तार किया और बैंकिंग का कार्य आरंभ किया।

पश्चिमी भारत में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के उत्तरार्ध प्रारंभ की अवधि में धनी किसानों की संख्या बढ़ी, इससे किसान वर्ग में स्तर भी बढ़े। यहां भी, नकदी

फसलों, जैसे गन्ना, तंबाकू, मूंगफली और कपास की खेती का विस्तार हुआ। किसानों के छोटे से वर्ग ने, जिनके पास बाजार में बिक्री के लिए अधिशेष होता था, बहुत मुनाफा कमाया और उसे वापस कृषि में निवेश किया। सिंचाई, ठेले खरीदने, और अपने इलाकों से बाहर अपने अनाज के लिए बेहतर बाजार ढूंढने में निवेश किया गया था। इन धनी किसानों ने, जो नए बाजार के अवसरों के समझने में सक्षम थे, प्राय: परम्परागत साहूकारों के बदले गांव में ऋण के स्रोत के रूप में भी कार्य किया। उन्होंने उन छोटे-छोटे किसानों की भूमि भी खरीदी जो बहुधा भारी कर्ज में डूबे हुए थे।

पूर्वी भारत में जमींदारों ने ऐसी ज्यादतियां कीं कि सरकार को संभावित विद्रोह रोकने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा। स्थायी बंदोबस्त के बाद बंगाल में दो मुख्य काश्तकारी अधिनियम बनाए गए: 1859 का किराया अधिनियम और 1885 का बंगाल काश्तकारी अधिनियम। काश्तकारी अधिनियम के अधीन स्थायी कर्षण अधिकार उन रैयतों को प्रदान किए गए जिनका बारह वर्षों तक लगातार किसी भी भूमि पर कब्जा रहा था। ऐसे कर्षण अधिकारी रैयत अपने जोतों पर स्वयं खेती नहीं करते थे और विशेषकर उनमें से अधिकांश कुछ बड़े रैयत थे जो आगे बटाई आधार पर अपनी भूमि पट्टे पर दे देते थे। यह मुख्य रूप से कर्षणाधिकारी काश्तकारों और बटाईदार काश्तकारों द्वारा दिए गए किरायों में भारी अंतर के कारण उत्पन्न हुआ। जो कर्षणाधिकारियों को भारी लाभ देता था। यह संभव था, क्योंकि गैर-कर्षणाधिकारी काश्तकारों द्वारा देय किराये की वृद्धि के विरुद्ध कोई कानूनी संरक्षण नहीं था। 1948 में स्थिति इतनी खराब थी कि जमींदारी उन्मूलन समिति की रिपोर्ट ने कहा कि उत्तर पश्चिमी प्रांतों के अधिकांश भागों में भूमि का बहुत बड़ा भाग (अर्थात् कुल के आधे से भी अधिक) बड़े जमींदारों के छोटे से ऐसे समूह के स्वामित्व में हैं जो कुल जनसंख्या के केवल 1.3 प्रतिशत हैं।

4.6.1 कृषि श्रमिक

इस विचार के विपरीत कि ब्रिटिश पूर्व भारत की परम्परागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था में दूसरे के खेतों में पूरी तरह कृषि श्रमिक के रूप में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी परन्तु जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि कृषि में ''मजदूरी श्रमिकों'' के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसके लिए दो कारकों की पहचान की गई है; ये थे: (i) वि-औद्योगिकीकरण और (ii) किसान वर्ग की बेदखली। इसके अलावा, भूमिहीन श्रमिक, अधिकांशत: निचली जातियों से थे। कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के बावजूद कृषि मजदूरी स्थिर रही। इसके कारणों में में शामिल थे, (i) नकदी फसलों की भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि (ii) रेलवे निर्माण/विस्तार पर कार्य और (iii) नहर खुदवाई कार्य। इन सभी कारणों से उन दलित वर्गों की सामाजिक प्रस्थिति में सुधार हुआ जो अधिकांशत कृषि श्रमिक थे। उनके रोजगार में विवशता और बाध्यता का तत्त्व कमजोर हुआ और विभिन्न प्रकार के सामाजिक उत्पीड़न (जैसे ऊंची जातियों के संबंध में लागू परिधान संहिता और आचार संहिता) भी बहुत कमजोर हो गया । कृषि के अंदर और बाहर प्रवासन (जैसे प्लांटेशन, खान, शहरी सेवाएं, सार्वजनिक कार्य आदि) बढ़ गया। इस प्रकार कृषि श्रमिकों की स्थिति काफी सीमा तक सुधर गई।

4.6.2 कृषि संवृद्धि

अपनी आजीविका के लिए भूमि पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों के विभिन्न समूहों के बीच संबंधों का ऐसा नेटवर्क था जो भूमि में निवेश करने को प्रोत्साहन नहीं दे रहा था। कृषि उत्पादन की काफी मात्रा उन परजीवी अधिकार धारकों के लिए आरक्षित की जाती थी जो कृषि कार्य में सहयोग के बिना आय प्राप्त करते थे। निवेश के लिए वास्तविक किसान के पास कोई अधिशेष प्रोत्साहन नहीं रहता था। किसान भी जोखिम से बचा करते थे और अपनी खराब आर्थिक स्थिति और प्रोत्साहनों के अभाव के कारण परिवर्तन का विरोध किया करते थे। कानूनी, आर्थिक और सामाजिक संबंधों के इस जटिल नेटवर्क ने प्रभाव उत्पन्न करने का काम किया जिसे डेनियल थॉर्नर ने अंत:निहित अवसाद (बिल्ट-इन-डिप्रेशर) नाम दिया।

शुद्ध परिणाम यह था कि कृषि वृद्धि निम्न से अवरुद्ध प्राय: तक ही रही। वर्ष 1891 से 1947 तक की अवधि के दौरान कृषि उत्पाद केवल 0.37 प्रतिशत प्रति वर्ष बढ़ा जब कि जनसंख्या वृद्धि 0.67 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। विशेषकर खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर तो केवल 0.11 प्रतिशत थी। हम जानते ही हैं कि 1921 के बाद जनसंख्या वृद्धि तेजी से बढ़ी (ये वृद्धि दर 1 प्रतिशत से भी अधिक थी) परन्तु खाद्यान्न उत्पादन पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ सका। इसके फलस्वरूप प्रतिव्यक्ति उत्पादन स्पष्ट रूप से गिर गया। परन्तु वाणिज्यिक फसल उत्पादन तेजी से, लगभग दुगुना, बढ़ा। सामान्यतया रैयतवारी और महालवारी क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि अधिक ऊंची थी। वृहद् बंगाल ऐसा क्षेत्र था जहां भूमि पट्टेदारी संरचना सबसे अधिक प्रतिगामी थी। किराया आय पर निर्वाह करने वाले परजीवी बिचौलियों के कई स्तर थे। यद्यपि पंजाब में भी किराया काश्तकारी के अधीन क्षेत्र काफी अधिक था, पट्टेदार अधिकतर छोटे भू-स्वामी थे, जिन्होंने भूमिस्वामियों से भूमि पट्टे पर ली थी और अपनी खेती की देखभाल के लिए गांव में रहते थे। पंजाब में काश्तकारी मूलरूप से उन मालिकों द्वारा श्रमिक जुटाने का एक तरीका था जिनकी जोत उस मात्रा से अधिक थी जिसे वे अपने परिवार के श्रम से खेती कर सकते थे। पंजाब में कृषि वृद्धि का महत्त्वपूर्ण स्रोत सिंचाई कार्य का विस्तार और कृषि के अधीन कुल क्षेत्र था। यद्यपि समग्र रूप से भारत में ब्रिटिश शासन सिंचाई की उपेक्षा करता रहा था, फिर भी पंजाब में सिंचाई पर बहुत अधिक निवेश किया गया था। अधिक विशिष्ट रूप से 1901-02 से 1913-40 के दौरान पंजाब में सरकारी नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्रफल लगभग 4.5 मिलियन एकड़ से बढ़कर 12.5 मिलियन एकड़ हुआ और इसी अवधि में कृषित क्षेत्र 23 मिलियन एकड़ से बढ़कर 31 मिलियन एकड़ हो गया था।

उन क्षेत्रों में, जहां कृषि विकास अवरुद्ध था, इसके लिए जिम्मेवार दो कारकों की पहचान की गई है। ये हैं: (क) भूमि के अधिकारों की संरचना और (ख) संसाधन उपलब्धता। जमींदारी क्षेत्रों में वाणिज्यीकरण के लाभ किराये खाने वालों के पक्ष में अधिक थे जो सीधे खेती नहीं करते थे। रैयतवारी बंदोबस्त में किसानों के एक वर्ग को अधिक लाभ होता था। इस प्रकार श्रेष्ठतर अधिकारों और गैर-कृषि पृष्ठभूमि का प्रतिकूल संयोजन ही कम निवेश और भूमि उत्पादकता में निम्न वृद्धि के लिए उत्तरदायी था। जल, भूमि और व्यक्ति-प्राकृतिक और मानवनिर्मित दोनों कारकों के

संसाधनों से जुड़े वितरण बहुत असमान थे। चावल उगाने वाले प्रदेशों, जैसे बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में, उच्च जनसंख्या घनत्व था, जबकि दक्षिणी चावल क्षेत्रों में जैसे कावेरी डेल्टा और गोदावरी कृष्णा डेल्टा ने वाणिज्यिक दृष्टि से अच्छा निष्पादन किया। दक्षिण के इन दोनों क्षेत्रों के दो विशिष्टताएं सांझी थी, (क) अच्छी सिंचाई, जिसने शुष्क ऋतु फसलों से चावल का संयोजन करना संभव बनाया, और (ख) अल्प जनसंख्या घनत्व मोटे अनाज (ज्वार, बाजरा आदि) पैदा करने वाले शुष्क प्रदेशों में पर्याप्त भूमि है। जब नहर सिंचाई ने भूमि को कृषि योग्य बनाया (जैसा कि पंजाब और पश्चिमी उ.प्र. में) तो शुष्क क्षेत्र प्रति किसान औसत भूमि के आधार पर तो अधिक अच्छे माने गए। इन क्षेत्रों को, जिन्हें अभी तक मोटे अनाजों के ही योग्य माना जाता था, नकद फसल में विविधता आ सकी, जैसे गेहूं और कपास। परन्तु प्रगति के मानवनिर्मित ऐसी दशाएं केवल सीमित स्तर पर ही उपलब्ध रही हैं।

बोध प्रश्न 3

लगभग 50 शब्दों में उत्तर दीजिए।

1) वे प्रमुख परिमाणात्मक परिवर्तन क्या हैं जिन्हें ब्रिटिश शासन अवधि के दौरान ''कृषि के वाणिज्यीकरण'' की दिशा में लागू किया गया?

.....

.....

.....

.....

2) वे चार मुख्य परिमाणात्मक परिवर्तन क्या थे जो ''भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण'' बढ़ाने की नीतियों के कारण देखे गये थे?

.....

.....

.....

.....

3) ''कृषि के वाणिज्यीकरण'' की प्रगति में ह्रास में किन कारकों का योगदान था? इन से गरीब किसान कैसे प्रभावित हुए?

.....

.....

.....

.....

4) ब्रिटिश काल के दौरान भारत के कौन से भाग में कृषि विकास में सब से कम समृद्धिशाली हुए? वे कौन से कारक थे जिनका इसमें योगदान था?

.....

.....

.....

.....

5) जनसांख्यिकी संरचना में 1900 के वर्षों के दौरान क्या मुख्य परिवर्तन देखे गए? क्या औसत मजदूरी स्तर पर इसका कोई प्रभाव हुआ? क्यों?

.....

.....

.....

.....

6) डेनियल थॉर्नर का क्या अभिप्राय था, जब उसने ब्रिटिश काल के अंतिम वर्षों के दौरान विद्यमान कृषि स्थिति को अंत:निहित अवसादक ''बिल्ट-इन डिप्रेशन'' कहा था 1900–1940 के वर्षों के दौरान भारतीय कृषि की वृद्धि पर वास्तविक प्रभाव क्या था?

.....

.....

.....

.....

4.7 सारांश

इकाई उस स्थिति के संक्षिप्त अवलोकन से प्रारंभ हुई जो मुगलकाल के दौरान भू-स्वामित्व और काश्तकारी संरचना में विद्यमान थी। बाद में उन मुद्दों और परिस्थितियों पर विचार किया गया जिन्होंने ब्रिटिश शासन की अवधि के दौरान भारतीय कृषि को मूर्तरूप प्रदान किया। विषयवस्तु इस तथ्य को सामने लाई कि कृषि सेक्टर का विकास साम्राज्यवादी सरकार के हितों के अनुकूल अधिक था और ये प्रक्रिया अपने पीछे भारतीय राजनीति में गहरा सामाजिक विभाजन छोड़ गई। ब्रिटिश शासन के इस स्वार्थी उद्देश्य का महत्त्वपूर्ण प्रमाण जानबूझ कर उन उद्योगों का विनाश करना था जो ब्रिटिश शासन पूर्व अवधि के दौरान कृषि के साथ-साथ विद्यमान थे, उस समय की परम्परागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई बनाते थे। परन्तु जोताई करने वाले किसानों को स्वामित्व का अधिकार देकर, गैर-कृषि सेक्टर, जैसे रेलवे, विपणन नेटवर्क, आदि का विस्तार वाणिज्यिक दृष्टि से कृषि सेक्टर का विकास, सिंचाई में निवेश कुछ ऐसे सकारात्मक उपाय हैं जो स्वतंत्रता पूर्व वर्षों में कृषि विकास प्रोत्साहित करने के लिए किए गए थे। इस पर भी कृषि क्षेत्र से उत्पन्न उल्लेखनीय लाभ के बावजूद ब्रिटिश शासन द्वारा मुख्य रूप से धनी जमींदारों को दिए गए संरक्षण के कारण गरीब किसानों को दरिद्रता की स्थिति भोगनी पड़ी। रैयतवारी प्रथा ने संस्थागत विकल्प के रूप में महाल प्रथा के साथ जमींदारी प्रथा की अपेक्षा अच्छा कार्य किया और आगे भी पर्याप्त अच्छा करने की आशा की

गई। प्रदेश या प्रांत के रूप में बंगाल का स्थिति अपेक्षाकृत कम प्रगतिशील रही है जिसे कुछ विद्वानों ने प्रतिगामी भी कहा है। इकाई में स्वातंत्र्योत्तर नीति निर्माताओं द्वारा देश में विशाल कृषि अर्थव्यवस्था के संबंध में विरासत का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि दी गई है।

4.8 शब्दावली

महालवारी प्रथा : राजस्व आकलन/संग्रहण की प्रथा जिसमें आकलन की इकाई ''ग्राम'' था। इस प्रथा में राजस्व भुगतान का प्राथमिक किसान और गांव के मुखिया (अर्थात् ग्राम सभा) का संयुक्त उत्तरदायित्व था।

रैयतवारी प्रथा : यह ऐसी प्रथा है जिसमें ''रैयत'' अर्थात् किसान को भूमि का स्वामी माना जाता है। इस प्रथा में सकल उत्पाद के अनुमानित मूल्य के आधार पर भू-राजस्व स्थायी रूप से नियत किया जाता है। यद्यपि ये प्रथा किसान के स्वामित्व की पक्षधर है, इसने बड़े भू-स्वामियों को भी स्थान दिया है।

वाणिज्यीककरण : इस शब्द ने भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थ अर्जित किए हैं पहले नकदी फसल जैसे कपास, गन्ना, जूट, तंबाकू आदि की उगाई को वाणिज्यीकरण का पर्याय समझा जाता था (जो केवल बाजार के लिए उगाए जाते हैं अर्थात् अपनी खपत के अलावा)। समय के चलते खाद्यान्न भी किसानों की नकदी आवश्यकता के कारण बाजार के लिए पैदा किया जाता है। यह संक्रमण हरित क्रांति से तेज हुआ है जिसने विक्रेय अधिशेष में वृद्धि की। खाद्यान्नों के लिए अनुकूल मूल्य नीति ने भी इस संक्रमण में योगदान किया है।

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dharma Kumar and Meghand Desai (eds.) (1982): The Cambridge Economic History of India, Cambridge University Press, Chapter 2.

Irfan Habib (2006): India Economy: 1858-1914, Tulika Books, New Delhi, Chapter 3.

Tirthankar Roy (2006): The Economic History of India 1857-1947, Oxford University Press, New Delhi, Chapter 4.

Tomlinson, B. R. (1993): The Economy of Modern India 1860-1970, Cambridge University Press, New Delhi, Chapter 2.

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर/संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 4.2 पहला अनुच्छेद देखिए और उत्तर दीजिए।

2) उपभाग 4.2.1 देखिए (भूमि की प्रति यूनिट इकाई × उस फसल का क्षेत्रफल)।

3) उपभाग 4.3 देखिए और उत्तर दीजिए।

4) उपभाग 4.4 देखिए (उसी वंश, मातृत्व, भाईचारे की भावना रक्त का संबंध)।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 4.4, पहला अनुच्छेद (i) से (iv) तक देखिए और उत्तर दीजिए।

2) उपभाग 4.4.1 देखिए और उत्तर दीजिए।

3) उपभाग 4.4.2 देखिए और उत्तर दीजिए (क्योंकि कीमतें बढ़ने से नियत बंदोबस्त भूमि से कम राजस्व मिलता है।

4) उपभाग 4.4.3 देखिए (प्राथमिक किसान और ग्राम)।

5) उपभाग 4.4.2 देखिए और उत्तर दीजिए (धनी मूल निवासियों द्वारा कृषि में निवेश के लिए सही दशाए बनाना और निष्ठावान समर्थकों का वर्ग बनाना।

6) उपभाग 4.4.4 देखिए और उत्तर दीजिए (किराये पर देना/बंधन रखना/उपहार द्वारा अंतरण/बिक्री नाम)।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 4.5, पहला अनुच्छेद देखिए और उत्तर दीजिए।

2) भाग 4.5, पहला अनुच्छेद देखिए और उत्तर दीजिए।

3) उपभाग 4.5.1 और 4.5.2 देखिए और उत्तर दीजिए।

4) उपभाग 4.5.2 देखिए

5) भाग 4.5, अंतिम अनुच्छेद देखिए और उत्तर दीजिए।

6) उपभाग 4.6.2 देखिए और उत्तर दीजिए।